ISSN: 2249-894X IMPACT FACTOR : 5.2331(UIF) VOLUME - 6 | ISSUE - 12 | SEPTEMBER - 2017

REVIEW OF RESEARCH

पूर्व मध्यकालीन कृषि और सामन्ती सम्बन्धः एक अनुशीलन

अनिल प्रसाद सिंह
शोधार्थी, इतिहास विभाग, ल0ना0मिथिला विश्वविद्यालय,दरभंगा

सारः

मिथिला के इतिहास से पूर्व मध्यकाल का विशेष महत्त्व है, जब मिथिला का अभूतपूर्व सांस्कृतिक उन्नयन हुआ और इसे स्थायी सांस्कृतिक पहचान मिली। भारत के अन्य हिस्सों की भाँति पूर्व–मध्यकाल में मिथिला क्षेत्रीय संस्कृति का पुनरोदय हुआ, जिसका श्रेय यहाँ के भौतिक जीवन में हुए परिवर्तन को दिया जा सकता है। सामंतवादी व्यवस्था के प्रादुर्भाव से स्थानीयता के तत्त्वों को बल मिला और कृषि की उन्नति ने शूद्र जातियों को आर्थिक क्रिया–कलाप से जुड़ने का मार्ग प्रशस्त किया। स्थानीय तौर पर उद्योग व्यवस्था एवं शिल्पों के पनपने से विभिन्न प्रकार के छोटे–छोटे शिल्पियों का प्रादुर्भाव हुआ। साथ ही स्थानीय भाषा चित्रकला, संगीत, नाच, पर्व–त्योहार आदि का विकास हुआ।

प्रस्तावनाः

हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् मिथिला के राज्य व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और उसके समाज तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में कुछ बुनियादी परिवर्त्तन हुए। हालाँकि राज्य, वर्ण–जाति आधारित समाज तथा पितृसत्तात्मक परिवार ये तमाम संस्थाएँ प्राचीन एवं मध्यकाल दोनों कालों में मौजूद थीं। इसी प्रकार लोहे के फलवाले हल से प्राचीन और मध्यकाल दोनों में खेती चलती थी। समानता की बात ईंटों, बर्तनों, इमारतों को बनाने की विधियों पर भी लागू होती थी। इसके अतिरिक्त अनेक कर्मकांडों, वर्ण–सुधार आन्दोलनों के संबंध में भी समानता देखने को मिलती है। किन्तु सातवीं सदी से पूर्व और बाद के काल के बीच इन तमाम समानताओं के बावजूद दोनों में कई उल्लेखनीय अंतर था, जिसके कारण पूर्व मध्यकालीन मिथिला के आर्थिक स्वरूप और प्राचीन कालीन मिथिला के आर्थिक स्वरूप में भिन्नता स्पष्ट नजर आती है। भूमि अनुदान की प्रथा, सामंतवाद का उदय, शूद्र जातियों की संख्या में वृद्वि, वर्ण–संकर जातियों का प्रादूर्भाव, कृषि आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास आदि कई ऐसे प्रमुख तत्व थे जिसने पूर्व मध्यकालीन मिथिला के आर्थिक ढ़ाँचे में फेरबदल किया। प्रस्तुत अध्याय में पूर्व मध्यकालीन मिथिला के आर्थिक स्वरूप एवं उसके निहितार्थ का विवेचन किया गया है।

जो राज्य हर्षवर्धन के काल में उत्तर भारत में देखने को मिलता है उसका स्वरूप प्राक्–गुप्त राज्य से भिन्न था। प्राक्–गुप्त राज्यों में, जो अपने कर्मचारियों को नकद भुगतान करते थे, नौकरशाही की भूमिका काफी महत्त्व की थी। इसमें संदेह नहीं कि मौर्य राज्य के चारों ओर उसके बहुत से करद राज्य थे और उनका रूप अधीनस्थ राज्यों का था, किन्तु मौय राज्य के गठन को सामंती नहीं कहा जा सकता। गुप्त काल में तथा उससे भी अधिक उसके परवर्ती काल में 'धार्मिक तथा प्रशासनिक सेवाओं के लिए भुगतान भूमिदानों के माध्यम से किया जाने लगा। यहाँ तक कि राज्य के हृदय में भी प्रशासनिक अधिकार अनुदान भोगियों या ऐस अधिकारियों के हाथ में चले गए, जिन्हें भरण–पोषण के लिए कुछ कररों की वसूली अपने खाते में रखने का अधिकार दे दिया जाता था। स्वभावतः इससे राज्य के हाथों से काफी सत्ता खिसक गई। राज्य के अनेक राजधानियाँ होने से भी केन्द्रीय सत्ता की कमजोरी का भान होता है। प्राचीन ग्रंथों में दुर्ग को राज्य का अंग माना गया है। किन्तु

पूर्व मध्यकाल में राजा की कई राजधानियाँ होती थी, जो स्कंधावार कहलाती थी। इस काल में राजाओं, उनके सामंतों तथा बड़े–बड़े भू–स्वामियों ने प्रतिद्वन्द्वियों तथा कृषकों के आक्रमणों और विद्रोहों से बचने के लिए अनेक गढ़ बनवाए।[1]

विमर्शः

सामंतवाद के उदय ने निश्चित रूप से केन्द्रिय सत्ता को कमजोर किया और मिथिला सहित हर बड़े राज्य में काफी सत्ता केन्द्र के हाथों से निकल गई। सत्ता के क्षय होने से राजा के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए उसमे देवत्व आरोपण तथा उसके छवि–निर्माण द्वारा प्रति संतुलित करने का प्रयत्न किया गया। राजा को तरह–तरह के पराक्रमों का, विशेष रूप से सैनिक पराक्रमों का श्रेय दिया गया। समुद्रगुप्त के समय से इस तरह की परम्परा ने जोर पकड़ा और चन्द्रगुप्त तथा पालवंशी शासक धर्मपाल आदि के समय से इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती चली गई। बहुत से अभिलेखों में तो राजा को सर्वथा अपराजित और अपराजेय तक बताया गया है। सातवीं सदी से राजा को प्राचीन तथा प्रतिष्ठित राजवंशों से भी जोड़ने की प्रक्रिया का प्रारंभ दिखाई देता है।[2]

पूर्व मध्यकालीन मिथिला के राजनीतिक उथल–पुथल ने अनेक विदेशी तत्त्वों को मिथिला के समाज में प्रश्रय प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इन विदेशी तत्त्वों ने अपनी पृथक सांस्कृतिक पहचान बनाई। इन तत्त्वों का ब्राह्मणीय समाज में समाहार होने से राजपूतों का उदय हुआ। राजपूतों ने अपनी प्रतिष्ठा को महिमामंडित करने की प्रक्रिया अपनाई और अपने मूल को सूर्यवंश और चंद्रवंश से जोड़ने का प्रयास किया। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों की सोपानबद्ध वर्णव्यवस्था कम से कम गुप्त काल तक कायम रही जिसमें समस्त सामाजिक तथा आर्थिक विधानो में इस व्यवस्था का पालन किया जाता था। पूर्व मध्यकाल में क्षत्रियों का स्थान राजपूतों ने ले लिया मध्यकाल में राजन् से जुड़ा एक सामाजिक वर्ग देखने को मिलता है। सामंती काल में युद्ध का महत्त्व बहुत बढ़ गया। देषी आदिवासी, हिन्द आर्य तथा मध्य एशियाई, इन विभिन्न मूलों के अलग–अलग योद्धाओं और शासकों का उदय हुआ। यहाँ तक कि कुछ ब्राह्मणों द्वारा भी शस्त्र–धर्म अपना लिये जाने का उल्लेख मिलता है। उन सबको संयोग से एक नए सामाजिक वर्ग का उदय हुआ जिसने यहाँ की आर्थिक व्यवस्था के स्वरूप को भी प्रभावित किया। यह वर्ग काम तो क्षत्रियों का करता था किन्तु राजपूतों के नाम से जाना जाता था। लोक प्रतिष्ठा पाने हेतु इन राजवंशों ने अपने को सूर्यवंश और चंद्रवंश की संतति होने का दावा करके कल्पित वंशवृक्ष तैयार किया वंशवृक्ष–रचना को वस्तुतः पृथक शास्त्र का रूप दे दिया गया। लोगों को अंधविश्वासपूर्ण कपोल कल्पित आख्यानों की घुट्टी पिलाई जाने लगी जिसमें सूर्यवंशी तथा चंद्रवंशी राजाओं के अति मानवीय पराक्रमों का बखान किया जाने लगा।[2] रामायण महाभारत तथा पुराणों की व्याख्यानों के द्वारा इसे काफी बल प्रदान करके स्थायी रूप से सुरक्षित कर दिया गया।

कृषि की उन्नति के फलस्वरूप शूद्रों के आर्थिक क्रियाकलाप पूर्व मध्यकाल में आकर कृषि कार्य से जुड़ते चले गए। अनुदान की भूमि से लगान तथा अन्य लाभों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक था कि अनुदान भोगी उसमें खेती–बारी करवाएँ। इत्सिंग (सातवीं सदी ई०) के विवरण से ज्ञात होता है कि जिन मठों के पास जमीन थी वे उसमें नौकरों तथा अन्य लोगों से खेती करवाते थे। बैल और खेत मठों की ओर से दिए जाते थे, जिसके बदलें सामान्यतः उन्हें उपज का छठा हिस्सा मिलता था।[3] साक्ष्यों से यह मालूम होता है कि परम्परागत रूप से राज्य को भी यही हिस्सा मिलता था। लेकिन मठों की तरह राज्य काश्तकारों को बैल नहीं देता था। जमीन जोतने–बोनेवाले लोग संभवतः मौर्य राज्य के बड़े–बड़े कृषि फार्मो में काम करनेवाले दासों एवं मजदूरों की तरह नहीं थे। दरअसल वे पट्टेदार थे और भू–स्वामी को उपज का एक अंश अदा किया करते थे। ह्वानवत्सांग ने शूद्रों को किसान कहा है। जिसमें प्रकट होता है कि वे जमीन को सिर्फ कोड़ते–कमाते ही नहीं थे, बल्कि अस्थायी तौर पर उसके कब्जेदार भी होते थे। आरंभिक धर्मशास्त्रों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अन्य ग्रंथों मे शूद्रों को मुख्यतः– भूमिहीन श्रमिकों के रूप वर्णित किया गया है, जिनसे उच्च वर्णो के लोग मजदूरों के तौर पर खेती–बारी का काम करवाते थे। राजस्व का मुख्य स्रोत चूँकि भूमि थी और शूद्र भूमिहीन थे, इसलिए उनपर कर नहीं लगाया जाता था। कौटिल्य के द्वारा शूद्रों का उल्लेख कृषक के रूप में किया गया है।[4] जो राज्य द्वारा बसाई गई बस्तियों में ही रहते थे। अतः मौर्य युग से ही संभवतः कमोवेश शूद्रों द्वारा भूमि स्वामी के रूप में कृषक बनकर कृषि करने की प्रक्रिया का प्रारंभ हो चुका था। पूर्व मध्यकाल तक आते–आते यह प्रक्रिया निश्चित तौर पर विस्तृत हुई होगी, और ह्वेनसांग द्वारा शूद्रों को किसान कहा जाना उपर्युक्त प्रक्रिया का अगला चरण था। स्पष्टतया सातवीं सदी तक बहुत सारे लोगों को, जिनमें अधिकतर शूद्र थे, अस्थायी पट्टे के रूप में

जमीन दी जा चुकी थी। डॉ० रामशरण शर्मा के अनुसार यह बात खासकर उत्तरी भारत के पुराने आबाद इलाकों में देखने को मिलती है। मिथिला भी इस बदलते परिवेश से अछूती न थी। डॉ० शर्मा तो कुछ दृष्टियों से यूरोप के दासों के कृषि दासों के रूपान्तरण से इसका साम्य स्थापित करते हैं। जनजातीय इलाकों में किसान धार्मिक दान भोगियों, विशेष रूप से ब्राह्मणों के नियंत्रण के अधीन हो गए, जिन्हें पाँचवी–छठी सदियों से बड़े पैमाने पर अनुदान दिए जाने लगे। जमीन के साथ बटाईदारों के हस्तान्तरण की प्रक्रिया भी प्रारंभ हुई, इस प्रवृति को जोर छठी सदी से बढ़ा, जो बाद के वर्षो में विस्तृत होती चली गई। सातवीं सदी के दो दानपत्रों में जो समुद्रगुप्त के नाम से जाली तौर पर तैयार किये गए थे, शिल्पियों तथा किसानों से कहा गया है कि वेद दान किए गए गाँव का त्याग करके करमुक्त गाँवों में न जाएँ। परवर्ती काल में यह प्रथा काफी आम हो गई। अब दान में दिए गए गाँव जनता–समृद्ध, धन–जन सहित और 'सप्रति वासी' समेत कहलाने लगे।[5] इन कारणों से इस काल में अवरूद्ध अर्थव्यवस्था के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ।

शिल्पियों को छोटे–बड़े भू–स्वामियों की सेवा के लिए उनके साथ बाँध दिया गया तथा शिल्पिया के भरण–पोषण के लिए दोनों फसलों की कटनी के समय दो बार उन्हें वृति दी जाने लगी। संभवतः यह प्रथा सातवीं सदी के आस–पास फैल गई। सातवीं सदी के दो दानपत्रों में अनुदत्त गाँव में रहनेवाले करदाता शिल्पियों तथा किसानों को अनुदान भोगियों के साथ बाँध दिये जाने का प्रमाण मिलता है। ऐसे किसानों की गतिशीलता पर लगे प्रतिबंधों के कारण इन्हें कृषि दास कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिल्पियों को कटनी के समय जिन्सों के रूप में अदायगी की जाती रही हो या यह भी संभव है कि उनके गुजारे के लिए उन्हें थोड़ी–बहुत जमीन दे दी जाती रही हो। इस प्रथा को सामाजिक मानव वैज्ञानिकों ने जजमानी की संज्ञा दी है। आज भी मिथिला में 'जजमानी' प्रथा का प्रचलन देखने को मिलता है।

निष्कर्षः

साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी से दूर देशों के साथ अर्थात् वैदशिक व्यापार का ह्रास होने लगा था। तीसरी सदी में ही रोमन साम्राज्य के साथ भारत का व्यापार बन्द हो गया था और छठी सदी में ईरान तथा बैजंतिया साम्राज्य के साथ रेशम का व्यापार भी बंद हो गया।[6] चीन और दक्षिण–पूर्व एशिया के साथ भारत का थोड़ा–बहुत वाणिज्य चलता रहा, परंतु इसका लाभ भी बिचौलियों का काम करनेवाले अरबों को ही मिलता था। भारत के वैदेशिक व्यापार के अवनति से मिथिला के व्यापार को भी क्षति पहुँची होगी। उत्तर–भारत सहित मिथिला में स्वर्ण मुद्राओं की कमी का होना संभवतः इसी बात का द्योतक है।

संदर्भ सूचीः–

1. रामशरण शर्मा, इंडियन फ्यूडलिज्म, कलकत्ता, 1965,परिशिष्ट–II
2. रामशरण शर्मा, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, पटना, 1996,पृ0–23
3. टी. टाकाकुसु (अनु०), ए रेकर्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन एज प्रैक्टिस्ड इन इंडियन एंड द मलय आर्किपेलगो बाई इत्सिंग, ऑक्सफोर्ड, 1896, पृ0–61
4. अर्थशास्त्र के अधिकरण–II में प्रयुक्त शूद्र–कर्षक पद का अर्थ 'शूद्र और किसान' भी हो सकता है।
5. रामशरण शर्मा, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पूर्वोक्त, 1996,पृ0–24
6. रामशरण शर्मा, अर्बन डिके इन इंडिया (300–1000), नई दिल्ली, 1987, पृ०–135–38